P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6 * ISSUE-6 * (Part-1) February- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

धर्म और राजनीति में अंत: संबंध

भानु प्रकाश शर्मा
सहायक आचार्य,
हिंदी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
उनियारा, टोंक, राजस्थान,
भारत

सारांश

ब्रह्मांड के जीवों में मनुष्य योनि को सर्वाधिक उन्नत माना जाता रहा है, इसीलिए धर्म के मर्म को केवल मनुष्य ही समझ सका है। धर्म और राजनीति यह दो ऐसे क्षेत्र हैं, जो मनुष्य के जीवन में अपरिहार्य हैं। परंतु यह मनुष्य का दुर्भाग्य रहा है कि धर्म शब्द अधिकांशतः संप्रदाय के अर्थ में ही समझा जाता रहा है, जबकि संप्रदाय शब्दकट्टरता से संबंधित हो गया है, इसीलिए अनजाने में धर्म को संप्रदाय के अर्थ में समझ कर मनुष्य जाति ने धर्म शब्द को राजनीति से भी दूर कर दिया है। प्रस्तुत आलेख में हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि धर्म और संप्रदाय यह दोनों बिल्कुल पृथक शब्द हैं।हिंदू मुस्लिम सिख ईसाई आदि होना धार्मिक होना नहीं है, क्योंकि यह नाम तो संप्रदायों के हैं जैसे जलना आग का धर्म है, बहना पानी का धर्म है, उसी प्रकार सत्य, अहिंसा, करुणा, दया आदि तत्वों से पोषित मनुष्यता ही मनुष्य का धर्म है। इसी धर्म शब्द के अभिप्राय को समझने की चेष्टा हम प्रस्तुत लेख में करेंगे।

दूसरी ओर मनुष्य ने विशेषतः भारत जैसे देश के संबंध में हमने राजनीति से धर्म को विदा कर दिया है, क्योंकि हम धर्म को संप्रदाय के अर्थ में लेकर राजनीति को संप्रदाय से दूर करना चाहते हैं,और अज्ञानता वश हमने राजनीति को धर्म विहीन बना दिया है, इसी कारण भारत जैसे आध्यात्मिक देश की राजनीति भी धर्म विहीन हो कर निम्नगामी होती चली गई है। आज हालात यह है कि राजनीति को दुष्ट और दुर्जन व्यक्तियों के योग्य माना जाने लगा है। विडंबना यह है कि बुरे व्यक्ति को देखकर लोग यह समझते हैं कि यह ही राजनीति के योग्य है, जबकि सज्जन और श्रेष्ठ पुरुष राजनीति से दूर भागते रहे हैं। हम तो यह मानते हैं की राजनीति तो भले लोगों के लिए है ही नहीं, यह तो बुरे व्यक्तियों का क्षेत्र है। प्रस्तुत लेख मेंहम यह विमर्श करेंगेकि राजनीति के लिए धर्म अनिवार्य अंग है। क्योंकि धर्म विहीन राजनीति मनुष्य और राष्ट्रदोनों के लिए घातक है। धर्म के निर्देशन में राजनीति सद् मार्ग पर चलती है। राजनीतिज्ञ को नीचे गिरने की सुविधा नहीं रहती, क्योंकि उसके सामने धर्म का आईना होता है। इसी प्रकार धर्म के विकास के लिए भी राजनीति का सहयोग अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म और राजनीति दोनों एक दूसरे से गहन संबंध रखते हैं। प्रस्तुत लेख मे धर्म का अभिप्राय समझाते हुए हम धर्म और राजनीति के अंतर्संबंध को विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे।

मुख्य शब्दः धर्म राजनीतिधर्म और राजनीतिधर्म का अभिप्राय धर्म का राजनीति से संबंध।

प्रस्तावना

मनुष्य के जीवन में धर्म और राजनीति दोनों ही शब्द बहुत महत्व रखते हैं। धरती पर ऐसा कोई मनुष्य नहीं होगा जो इन दो शब्दों से अछूता रह सकता हो। भारत देश के लिए भी धर्म और राजनीति यह दोनों शब्द बहुत कीमती हैं, क्योंकि सदियों से हमारा भारत देश आध्यात्मिक देश के रूप में मान्यता रखता रहा है, परंतु यह दुर्भाग्य का विषय रहा कि धर्म शब्द अपने मौलिक अर्थ से बहुत दूर हो गया और लगभग बार बार धर्म का अर्थ सांप्रदायिकता समझा गया है। जबकि वास्तव में धर्म और सांप्रदायिकता शब्द में कोई भी संबंध नहीं है। प्रस्तुत लेख में हम यही विचारने का प्रयास करेंगे कि धर्म शब्द का वास्तविक अर्थ क्या ह? और राजनीति के लिए धर्म कितना आवश्यक है ? धर्म युक्त राजनीति किसी भी देश के लिए कितनी आवश्यक है? और धर्म शब्द का सांप्रदायिकता से कोई भी संबंध नहीं है। प्रस्तुत लेख में हम धर्म और राजनीति के संबंध में इन्हीं कुछ प्रश्नों पर विचार करेंगे।

यह हमारा दुर्भाग्य रहा है कि धर्म शब्द का वास्तविक अर्थ समझने में हम चूकते रहे हैं। ज्यादातर अवसरों पर धर्म शब्द का अर्थ सांप्रदायिकता ही

समझा गया है। जब भी धर्म शब्द सामने आया तो हमने उसे किसी न किसी संप्रदाय के परिप्रेक्ष्य म ही समझा है और हम अपनी नजर हिंदू मुस्लिम सिख ईसाई जैसे मतावलंबियों पर टिका लेते हैं। परंतु सच्चाई यह है कि धर्म शब्द का सांप्रदायिकता से कोई भी संबंध नहीं है। धार्मिक होना हिंदू और मुसलमान होने से बहुत अलग बात है। सांप्रदायिक होना धार्मिक होना तो है ही नहीं, वरन् उल्टे वही धार्मिक होने में सबसे बड़ी बाधा है। जब तक कोई भी व्यक्ति हिंदू या मुसलमान है तब तक उसका धार्मिक होना असंभव है। स्वामी विवेकानंद ने धर्म की व्यापक विवेचना की है। धर्म क्या है? यह स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं–

"पहले सब संकीर्ण धारणाओं का त्याग करो और हर व्यक्ति में ईश्वर का दर्शन करो– वह सब हाथों से काम कर रहे हैं, सब पैरों से चल रहे हैं, सब मुखों से भोजन कर रहे हैं, हर व्यक्ति में वे निवास करते हैं, सब मनो से वे सोचते हैं। वह स्वतः प्रमाण हैं। वह हमसे भी हमारे अधिक निकटवर्ती हैं, इसे जानना ही धर्म है।"[1]

वास्तव में देखा जाए तो संप्रदाय एक मार्ग है और धर्म मंजिल। जैसे कोई पहाड़ का शिखर स्थित हो और उस पहाड़ के नीचे बहुत से रास्ते हो, जो शिखर तक पहुंचते हैं इस स्वरूप में पहाड़ के सभी रास्ते संप्रदाय हैं और पहाड़ का शिखर धर्म है। संप्रदाय तो एक विधि या मार्ग है, जो मनुष्य को सत्य तक पहुंचा सकता है। पर कठिनाई यह रही है कि संप्रदाय कट्टरता के पोषक हैं। और उससे भी बड़ी समस्या यह है कि ज्यादातर अवसरो पर धर्म को संप्रदाय के अर्थ में ही समझा जाता रहा है। इसलिए जब हम धार्मिक शिक्षा की बात करते हैं तो उसका मतलब सांप्रदायिक शिक्षा ही समझा जाता है। जितने लोग धर्म और शिक्षा के लिए विचार करते हैं और जो शिक्षा से धर्म को जोड़ना चाहते हैं,तो धर्म से उनका अर्थ या तो हिंदू होता है या मुसलमान या फिर ईसाई। जबकि ऐसी सांप्रदायिक शिक्षा धार्मिकता नहीं लाएगी, वह मनुष्य को और अधिक अधार्मिक बना सकती हैं। सदियों से मनुष्य को धार्मिक शिक्षा के नाम पर सांप्रदायिक शिक्षा ही दी जाती रही है, लेकिन आज तक उससे कोई बेहतर मनुष्य हम पैदा नहीं कर पाए, और नहीं कोई उत्कृष्ट समाज हम पैदा कर सके। इसके विपरीत हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई के नामों पर जितना अधर्म जितनी हिंसा और जितना रक्त पात हुआ है, उतना किसी और बात से नहीं हुआ।

"मानव जाति के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है की रिलीजन व धर्म शब्द को प्रायः संकुचित सांप्रदायिक अर्थ में ही स्वीकार किया गया है। अतः इस धर्म ने मानव समाज को एकता के सूत्र में संगठित करने के स्थान पर विभिन्न संप्रदायों के मध्य विद्वेष एवं घृणा की भावना पैदा की है। वर्तमान में भी धर्म का यही संकुचित अर्थ प्रचलित है। जिससे मानव अनेक संप्रदायों में विभक्त होकर परस्पर संघर्षरत हो गया है।"[2]

इसका अर्थ यह है की धार्मिकता और सांप्रदायिकता दोनों बिल्कुल अलग–अलग बातें हैं। सांप्रदायिक मनुष्य कभी भी धार्मिक नहीं हो सकता, और धर्म और धार्मिकता बिल्कुल ही दूसरी बात है, तथा सांप्रदायिकता से जिसका कोई भी संबंध नहीं है।

धर्म शब्द का अभिप्राय तो उपरोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है की धर्म और संप्रदाय दोनों बिल्कुल अलग है। सांप्रदायिक होना धार्मिक होना नहीं है। तो फिर धर्म क्या है?

वास्तव में धर्म शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ रखता है। धर्म की हजारों परिभाषाएं प्रचलन में है। प्राचीन काल स ही धर्म शब्द की विस्तृत व्याख्या की जाती रही है। और यह सौभाग्य की बात है कि प्राचीन शास्त्रों में भी धर्म शब्द का संबंध संप्रदाय से कभी नहीं रहा। सबसे पहले यदि हम धर्म शब्द की व्युत्पत्ति को देखें तो इस शब्द की उत्पत्ति धि नामक धातु से हुई है, जिसका अर्थ है धारण करना। इस आधार पर महाभारत में धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है की जो समाज को धारण करें वही धर्म है।

"धियते लोकः अनेन इतिधर्मः
या धरति धारयतिवालोकम् इतिधर्मः।"[3]

इस प्रकार धर्म की इस परिभाषा का वास्तविक निहितार्थ यह है कि धर्म मनुष्य का वह स्वभाव है जो संपूर्ण मानव समाज को परस्पर संगठित रखता है। इस दृष्टि से धर्म सामाजिक एकता एवं संगठन की शक्ति के रूप में देखा जा सकता है। महर्षि कणाद ने धर्म के विषय में लिखा है, धर्म वह है जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि हो।–––––

"यतो अभ्युदयनिः श्रेयसिद्धिः सधर्मः" (वे.सू.7ध1ध2)

लेखक पी.पी.वी. काने ने अपनी पुस्तक धर्मशास्त्र का इतिहास में स्पष्ट किया है कि व्यक्ति का वह सामाजिक व्यवहार जो की चरम मानवीय लक्ष्य प्राप्ति का साधन है, उसे धर्म माना जाता है। धर्म शब्द की व्याख्या करते हुए एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी सामने आता है कि महर्षि मनु जिनकी पुस्तक मनुस्मृति अत्यंत विवादास्पद रही है और ज्यादातर समय आलोचकों के निशाने पर रही है, परंतु वे महर्षि मनु जब धर्म शब्द की व्याख्या करते हैं, तो वह कभी भी धर्म शब्द को संप्रदाय के अर्थ में नहीं रखते। उनके लिए धर्म वैदिक या हिंदू होना नहीं है, वरन वे धर्म के 10 लक्षण बताते हैं

"धृति क्षमा दमोअस्तेयम् शौचमिन्द्रिय निग्रहः
धीर्विद्या सत्यम क्रोधो दशक धर्म लक्षणम्।"[4]

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय,शौच, इंद्रियनिग्रह, बुद्धि, विध्या, सत्य और अक्रोध और इन लक्षणों में एक भी ऐसा लक्षण नहीं है, जो सांप्रदायिकता या कट्टरता की बात करता है। मनु ने लिखा है कि पारिवारिक, व्यक्तिगत, सामाजिक व राजनीतिक आदि समस्त कर्म व कर्तव्य धर्म है। हिंदू धर्म में सबसे ज्यादा विवादास्पद रहे महर्षि मनु भी धर्म की जो व्याख्या करते हैं, वह मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है, ना कि सांप्रदायिक।उनके द्वारा बताए गए सभी लक्षण मनुष्य को उत्कृष्ट बनाने में सहायक है–––––

"मनु ने स्पष्ट किया है कि इन लक्षणों को केवल जानने मात्र से काम नहीं, अपितु इन के अनुरूप जीवन

को अनुप्राणित करना चाहिए क्योंकि परलोक में जीवन की सहायता के लिए एक मात्र धर्म उपस्थित रहता है।"[5]

भारत क प्राचीन शास्त्रों में भी धर्म का संप्रदाय से कोई संबंध नहीं है। ऋग्वेद में धर्म के संबंध में कहा गया है कि धर्म ही विश्व का मूल तत्व या आधार है। उपनिषदों में धर्म का संबंध सत्य और कर्तव्य से जोड़ दिया है। जिससे धर्म का स्वरूप नैतिक हो गया। बृहदारण्यक में धर्म को सत्य से संबंधित कर दिया गया है। भगवत गीता में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को स्वधर्म पालन की शिक्षा दी है। बौद्ध दर्शन में भी अष्टांगिक मार्ग को धर्म के अंतर्गत माना गया है, जिससे इसका नेतिक पक्ष प्रबल हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय मनीषियों ने धर्म का प्रचलित अर्थ स्वीकार नहीं किया है। भारतीय मनीषियों ने धर्म को एक ऐसी जीवन पद्धति के रूप में ग्रहण किया है, जिसके अनुसार मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करता है और जिस में स्व कर्तव्य पालन का सर्वाधिक महत्व है।

धर्म के लिए अंग्रेजी भाषा में प्रचलित रिलीजन शब्द के अर्थ विश्लेषण करने से भी इसका स्वरूप और अर्थ स्पष्ट हो जाता है। रिलीजन शब्द की उत्पत्ति प्राय लेटिन भाषा के रिलियेजर शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है बांधना, इस अर्थ में धर्म मनुष्य एवं ईश्वर में संबंध स्थापित करने वाली बात कहता है। साथ ही धर्म प्राय मनुष्य को भी परस्पर बांधता या संगठित करता है। इस प्रकार रिलीजन शब्द का अर्थ भी प्राय संस्कृत के धर्म शब्द से भिन्न नहीं हैं। इन दोनों ही अर्थों में धर्म का आशय परस्पर बांधना या संगठित करना है। इस प्रकार धर्म प्राय मनुष्यों को संगठित करने एवं परस्पर बांधने का साधन होता है। धर्म शब्द का अभिप्राय को हम दूसरे आयाम से भी देख सकते हैं। महाभारत में कृष्ण अर्जुन से धर्म की बात करते हुए कहते हैं–––

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मों भयावहः"[6]

यहां कृष्ण का धर्म से अर्थ है स्वभाव, प्रकृति या अंतः प्रकृति। कृष्ण संसार के समस्त मनुष्यों को स्वभाव के आधार पर चार श्रेणियों में विभाजित करते हैं। जिनके जीवन का केंद्र सत्य की खोज में है, वह ब्राह्मण। जो साहस की खोज में है, वह क्षत्रिय। जो धन या अर्थ की खोज में है, वह वैश्य तथा जो सेवा में ही आनंदित है वह शूद्र। अर्जुन स्वभावतः क्षत्रिय हैं, परंतु वह सन्यास की ओर जाना चाहता है, अर्थात ब्राह्मण मार्ग पर, तब कृष्ण उक्त सूत्र में अर्जुन को अपने धर्म को पहचानने के लिए कहते हैं। यहां धर्म का अभिप्राय स्वभाव से है। अर्जुन का स्वभाव या स्वधर्म क्षत्रिय का है, और वह सन्यास की ओर उत्सुक है, अर्थात पर धर्म की ओर। वह ब्राह्मण मार्ग पर जाना चाहता है। कृष्ण का समझाना यह है कि यदि अर्जुन सन्यास अर्थात पर धर्म की ओर लालायित होगा, तो विनष्ट हो जाएगा। परंतु यदि वह क्षत्रिय अर्थात स्वधर्म पर चलेगा, तो अंततः धर्म अर्थात परमात्मा को प्राप्त कर लेगा। जो व्यक्ति स्वधर्म को पहचान कर उसी के अनुरूप आचरण करता है, वह धर्म को प्राप्त हो जाता है।–

"स्वधर्म अलग अलग है, धर्म अलग नहीं है, और जिस दिन स्वधर्म की, मैं अपने स्वधर्म की पूर्ति करता हूं, और आप अपने स्वधर्म की पूर्ति करते हैं, तो जिस मंदिर पर हम पहुंच जाते हैं वह एक है।३३.. जैसे सब सरिताएं सागर में पहुंच जाती है, ऐसे ही सब स्वधर्म महा धर्म में पहुंच जाते हैं। वह धर्म एक है। लेकिन वह धर्म उस दिन मिलता है जिस दिन स्व मिट जाता है।"[7]

अंततः समस्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म का अर्थ सांप्रदायिकता से बिल्कुल नहीं है। जैसे जलना आग का धर्म है, बहना नदी का धर्म है, उसी प्रकार सत्य अस्तेय अहिंसा क्षमा आदि तत्वों से पोषित मनुष्यता ही मनुष्य का धर्म है। अंत में हम विवेकानंद के शब्दों में धर्म का अभिप्राय समझने की चेष्टा करें।–

"यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म होना है, तो वह किसी देश या काल से सीमाबध्द नहीं होगा, वह उस असीम ईश्वर के सदृश ही असीम होगा, जिसका वह उपदेश देगाय जिसका सूर्य श्रीकृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, संतों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाश विकिर्ण करेगा, जो ना तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई और न इस्लाम, वरन इन सब की समष्टि होगा, किंतु फिर भी जिसमें विकास के लिए अनंत अवकाश होगा, जो इतना उदार होगा कि पशुओं के स्तर से किंचित उन्नत निम्नतम घृणित जंगली मनुष्य से लेकर अपने हृदय और मस्तिष्क के गुणों के कारण मानवता से इतना ऊपर उठ गए उच्चतम मनुष्य तक को, जिसके प्रति सारा समाज श्रद्धानत हो जाता है और लोग जिसके मनुष्य होने में संदेह करते हैं, अपनी बाहों से आलिंगन कर सके और उनमें सबको स्थान दे सके।वह धर्म ऐसा होगा, जिसकी नीति में उत्पीड़न या असहिष्णुता का स्थान नहीं होगायवह प्रत्येक स्त्री और पुरुष में दिव्यता को स्वीकार करेगा और उसका संपूर्ण बल और सामर्थ्य मानवता को अपनी सच्ची,दिव्य प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केंद्रित होगा" (स्वामी विवेकानंद पुस्तक धर्मः स्वामी विवेकानंद की दृष्टि में पृष्ठ 131)

राजनीति में धर्म की आवश्यकता

मनुष्य के जीवन में जैसे धर्म की महत्ता है, उसी प्रकार राजनीति भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि धर्म यदि आत्मा की तरह है, तो राजनीति शरीर के समान है। संप्रदाय और धर्म को एक ही समझने की भूल के कारण हमने राजनीति को धर्म से विदा कर दिया, और श्रेष्ठता से निकृष्टता के मार्ग को हमने अपना लिया

"धर्म जीवन को जीने की कला है, जीवन को जीने का विज्ञान है। हम जीवन को उसके पूरे अर्थों में कैसे जियें, धर्म उसकी खोजबीन है। धर्म यदि जीवन–कला की आत्मा है, तो राजनीति जीवन–कला का शरीर है। धर्म अगर प्रकाश है जीवन का, तो राजनीति पृथ्वी है।न आत्मा अकेली हो सकती है, न शरीर अकेला हो सकता है३ धर्म के बिना राजनीति सड़ा हुआ शरीर हो जाती है।"[8]

जीवन को चलाने के लिए जो भी व्यवस्था है उसका नाम राजनीति है। राजनीति के भीतर अर्थ, शिक्षा, समाज सभी कुछ आ जाते हैं। अर्थात राजनीति हमारे लिए महत्वपूर्ण और अपरिहार्य है। परंतु समस्या यह है हमने जो राजनीति चुनी उससे धर्म को अलग कर दिया, क्योंकि अज्ञानता वश हमने धर्म को संप्रदाय के अर्थ में ही समझा, जबकि पिछले बिंदु में हम विशद रूप से विवेचन कर चुके हैं कि धर्म का अर्थ संप्रदाय नहीं है। परंतु विशेषतः भारत के संदर्भ में राजनीति से धर्म को विदा कर दिया गया, और हमने धर्मनिरपेक्षता अर्थात धर्म से रहित राजनीति को चुना। और परिणाम यह हुआ धर्म विहीन हो कर राजनीति सतत नीचे गिरती चली गई। राजनीति के धर्म से निरपेक्ष होने का यही अर्थ हुआ कि जीवन में जो भी महत्वपूर्ण है, जो भी श्रेष्ठ है, राजनीति को उससे कोई प्रयोजन नहीं है। धर्म मनुष्य को ऊंचा उठाता है। उसे श्रेष्ठ मार्ग की ओर ले जाता है। परंतु धर्म से विहीन राजनीति केवल निकृष्टता की ओर ही जा सकती है। धर्म से निरपेक्ष होने का अर्थ होता है, श्रेष्ठता से निरपेक्ष होना, उत्कृष्टता से निरपेक्ष होना। कोई भी राजनीति यदि श्रेष्ठता से दूर होगी, तो स्वभावतः वह निम्नगामी हो होगी। इसीलिए आजादी के पश्चात भारत देश की राजनीति धर्म से निरपेक्ष होकर श्रेष्ठता से भी निरपेक्ष हो गई।

राजनीति से धर्म के दूर होने का एक बड़ा कारण हमारा प्राचीन इतिहास भी है। अगर हम भारत के अतीत को देखें, तो धार्मिक व्यक्तियों ने भी राजनीति से दूरी बनाकर ही रखी। धर्म भी राजनीति से निरपेक्ष ही बना रहा। भारत देश स्वतंत्र हो या परतंत्र, सत्ता दुष्ट व्यक्ति के हाथ में हो या सज्जन व्यक्ति के, राजनीतिज्ञ कैसा शासन करें? धार्मिक व्यक्तियों ने इससे लेना देना ही नहीं रखा। लगभग 1000 साल तक हमारा देश गुलाम रहा, परंतु हिंदुस्तान के साधू सन्यासियों ने, या धार्मिक व्यक्तियों ने, इस गुलामी को हटाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया। तुलसीदास जैसे महान संत भी धर्म की गाथा तो गाते रहे, परंतु जब राजनीति की विवेचना की बारी आई तो उन्होंने अपनी राय दी–

" कोउ नृप होउ, हमें क्या हानि"[9]

यह दुर्भाग्य की बात थी कि विदेशी आक्रांता भारत को गुलाम बनाकर उस पर अत्याचार करते रहे, परंतु भारत के धार्मिक लोग, लोक–परलोक की चर्चा करते रहे। हजार साल तक हिंदुस्तान के धार्मिक लोगों ने भारत के भाग्य को बदलने के लिए कुछ भी नहीं किया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि धर्म का राजनीति से कोई संबंध नहीं था। भारत देश में सैकड़ों वर्षो तक, जब धर्म ने राजनीति से दूरी बनाकर रखी तो स्वभाविक रूप से स्वतंत्र भारत में सत्ता जब राजनीतिज्ञों के पास आई तो उन्होंने भी धर्म से दूरी बना ली, और स्वयं को धर्मनिरपेक्ष घोषित कर दिया।

परंतु भारत और मनुष्य के भाग्य की दृष्टि से धर्म और राजनीति की इस दूरी को उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आजादी के इतने सालों बाद अगर हम भारत की राजनीति को देखें तो राजनीति का स्तर सतत नीचे गिरता गया है। ऐसा समझा जाता रहा है कि सज्जन व्यक्ति के लिए राजनीति नहीं है वरन दुष्ट और दुर्जन व्यक्ति ही राजनीति के योग्य है। धर्म और राजनीति में संबंध नहीं रहने के कारण ही ऐसा घटित हुआ है। अगर राजनीति जीवन की उच्चतम आदर्शों की तरफ आकर्षित नहीं होती तो निश्चित ही वह निम्नतम आदर्शों के आधार पर जाएगी। जिसके जीवन में ऊंचे से पुकार नहीं आती उसके जीवन में नीचे से पुकार आनी शुरू हो जाती है। अगर राजनीति यह मानती है कि धर्म से हमारा कोई संबंध नहीं है तो फिर जो मनुष्य की निम्नतम वृत्तियाँ हैं, वह उनकी ओर आकर्षित होने लगती है। राजनोतिज्ञ सदा चाहता है की वह धर्म से दूर रहे, क्योंकि धर्म के सामने उसे आत्मग्लानि होनी शुरू हो जाती है। राजनीतिज्ञ के सामने धर्म एक दर्पण बन जाता है, जिसमें उसे अपने सारे विकार और रोग नजर आने लगते हैं।
यह बड़ी शोचनीय स्थिति है की राजनीतिज्ञ धर्म को राजनीति के लिए अनावश्यक समझते रहे। बाल गंगाधर तिलक जैसे महान राजनीतिज्ञ भी राजनीति के लिए धर्म को अनावश्यक समझते रहे। महात्मा गांधी के साथ अपने एक पत्र व्यवहार में वे लिखते हैं।

"मेरे दोस्त राजनीति में सत्य के लिए कोई स्थान ही नहीं है? राजनीति सांसारिक प्राणियों का क्षेत्र है साधुओं का नहीं।"[10]

ऐसे विचारों का यह परिणाम हुआ है कि भारतीय राजनीति लगातार बुरे से बुरे व्यक्तियों के हाथों में जाती रही है, क्योंकि जीवन का नियम यह है की अगर बुरे आदमी को ताकत से हटाना है तो आपको बुरा होना पड़ता है, और दूसरा नियम यह है कि अगर एक अच्छे आदमी को हटाना हो तो आपको उससे अच्छा आदमी साबित होना पड़ता है, तब आप उसे हटा सकते हैं। अगर भारतीय राजनीति में हमने धार्मिक लोगों को जगह दी होती तो तो राजनीति सतत श्रेष्ठता की ओर ही गमन करती, परंतु हमने तो यह विचार अपनाया कि अच्छे आदमी को राजनीति में जाना ही नहीं चाहिए तो निश्चित ही राजनीति लगातार बुरे हाथों में जाती रही है, और निम्नगामी होती रही है। प्रसिद्ध साहित्यकार मुक्तिबोध लिखते हैं।

"और इन वर्षों में सबसे बड़ी भूल कौन सी हुई?. ..... राजनीति के पास समाज सुधार का कोई कार्यक्रम ना होना? लेकिन नये ने पुराने का स्थान नहीं लिया। धर्म भावना गयी,लेकिन वैज्ञानिक बुद्धि नहीं आयी। धर्म ने हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष को अनुशासित किया था"[11]

उत्कृष्ट राजनीति के लिए धर्म की अपरिहार्यता

केवल भारत ही नहीं वरन संपूर्ण विश्व का साभाग्य इसी में निहित है कि राजनीति सर्वश्रेष्ठ हाथों में हो, क्योंकि संपूर्ण समाज और राष्ट्र को चलाने वाली शक्ति राजनीति ही है। कोई राष्ट् और उसकी प्रजा यदि अधार्मिक शासक के हाथों में होगी तो उसका पतन निश्चित है। धर्म से पूर्ण राजा, प्रजा और राष्ट्र दोनों के

लिए सदैव हितकारी होगा। प्रसिद्ध हिंदू ग्रंथ यजुर्वेद में ऋषि राजा का कर्त्तव्य बताते हुए कहता है–

" अग्नि अच्छा वदेह नाः प्रति नः सुमना भव।
प्रनो यच्छ सहस्र जित् त्व हि धनदा असि स्वाहा।। 9/28"

अर्थात ईश्वर उपदेश करता है कि राजा, प्रजा और सेना जन मनुष्यों से सदा सत्य–प्रिय वचन कहें। उनको धन दे, उनसे धन ले, शरीर और आत्मा का बल बढ़ा और नित्य शत्रुओं को जीतकर धर्म से प्रजा को पाले।"[12]

भारत के प्राचीनतम ग्रंथ भी राजनीति में श्रेष्ठ व्यक्तियों के जाने के समर्थक रहे हैं। हिंदू ग्रंथों में ऋग्वेद को सर्वाधिक प्राचीनतम माना जाता है। यह ग्रंथ भी स्पष्ट करता है कि राजा वही व्यक्ति हो सकता है जो धार्मिक हो–

"त्वं राजेंद्र ये च देवा रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान ।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वम् सत्यो वसानः
सहोदाः।।1।174।1।।

अर्थात जो राजा होना चाहे वह धार्मिक सत्पुरुष विद्वान मंत्री–जनों को अच्छे प्रकार रख के उनसे प्रजाजनों की पालना करावे। जो ही सत्या–चारी, बलवान, सज्जनों का संग करने वाला होता है वह राज्य को प्राप्त होता है"[13]

अभिप्राय यह है कि यदि हमें जिंदगी को बदलना है तो अच्छे लोगों के हाथ में सत्ता का होना अनिवार्य है, क्योंकि वर्तमान मे राजनीति सर्वोपरि है, वह सभी का संचालन करती है, इसलिए एक धार्मिक और सज्जन शासक ही मनुष्यता का भला कर सकता है। भारत का भाग्य उसी दिन बदलेगा, जिस दिन भारत के अच्छे और सज्जन लोग सारी राजनीति को अपने हाथ में ले सकेंगे महान दार्शनिक ओशो कहते हैं की।

"धर्म के बिना राजनीति केवल मरा हुआ शरीर है और राजनीति के बिना धर्म केवल एक प्रेत आत्मा है?. अतः इन दोनों में संबंध अनिवार्य है। यह दोनों संयुक्त हो और संयुक्त होने में भी सदा ध्यान रहे, धर्म सदा ऊपर रहे, राजनीति सदा नीचे रहे। धर्म सिर है, राजनीति ह पैर। धर्म आत्मा है, शरीर है राजनीति। धर्म जीवन का लक्ष्य है, राजनीति साधन है।" (लेखक ओशो पुस्तक धर्म और राजनीति पृष्ठ 106)

निष्कर्ष

इस प्रकार अंत में हम कह सकते हैं कि धर्म को सदैव गलत अर्थों में समझा गया है। हर बार धर्म को सांप्रदायिकता माना गया, ओर इसी कारण धर्म को राजनीति से दूर कर दिया गया। उपरोक्त विवेचन में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्म का अभिप्राय संप्रदाय बिल्कुल नहीं है। जैसे अग्नि का धर्म जलना है, उसी प्रकार सत्य, अस्तेय, अहिंसा, दया आदि तत्वों से पोषित मनुष्यता ही मनुष्य का धर्म है। और वर्तमान राजनीति को धर्म की अत्यंत आवश्यकता है, क्योंकि धर्म विहीन होकर राजनीति सदा नीचे की ओर गिरती है। अतीत मैं भी श्री कृष्ण कौरव और पांडवों में से पांडवों को इसीलिए चुनते हैं क्योंकि वह धर्म के मार्ग पर है। राजनीतिज्ञ धर्म से सदा दूर रहना चाहते हैं, क्योंकि उनके सामने धर्म एक दर्पण बन जाता है, जिसमें वह अपनी बुराइयों और गलतियों को भली–भांति देख सकते हैं। अगर बुरे व्यक्तियों से राष्ट्र को बचाना हो तो सज्जन और धार्मिक व्यक्ति को राजनीति से जुड़ना चाहिए। धर्म यदि आत्मा है तो राजनीति शरीर है। धर्म यदि विचार है तो राजनीति क्रिया है। धर्म यदि आकाश है तो राजनीति पृथ्वी है। धर्म साध्य है और राजनीति साधन है। धर्म मंजिल है और राजनीति मार्ग है। अंततः निसंदेह यह कहा जा सकता है कि यदि सज्जन और धार्मिक व्यक्ति राजनीति में आता है, राजनीति यदि धर्म को अंगीकार करती है, तो भारत और संपूर्ण विश्व का सुंदर और स्वर्णिम भविष्य हो सकता है।

अंत टिप्पणी

1. *संपादक उमेश कुमार चौरसिया, पुस्तक "धर्म स्वामी विवेकानंद की दृष्टि में" पृष्ठ33 प्रकाशक साहित्यागार, चौड़ा रास्ता जयपुर*
2. *लेखक डॉ महेंद्र कुमार मिश्रा, पुस्तक धर्म और दर्शन, पृष्ठ 19 प्रकाशक आर .बी. एस. ए.पब्लिशर्स चौड़ा रास्ता जयपुर 302003*
3. *लेखक आनंद स्वरूप मिश्र, पुस्तक महाभारत में धर्म, पृष्ठ 7 प्रकाशक सुलभ प्रकाशन अशोक मार्ग लखनऊ*
4. *लेखक पंडित ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी, पुस्तक मनु स्मृति, पृष्ठ 9 प्रकाशक रणधीर प्रकाशन हरिद्वार*
5. *डॉक्टर वीना श्रीवास्तव पुस्तक बृहत्त्रयी में निहित वैदिक तत्व पृष्ठ 28 प्रकाशक नवजीवन पब्लिकेशंस निवाई*
6. *श्रीमद भगवत गीता, अध्याय 3 श्लोक 35 पृष्ठ 61 प्रकाशक गीता प्रेस गोरखपुर*
7. *लेखक ओशो पुस्तक गीता दर्शन भाग 1 पृष्ठ 443 प्रकाशक ओशो मीडिया इंटरनेशनल पुणे महाराष्ट्र इंडिया 411001*
8. *लेखक ओशो पुस्तक धर्म और राजनीति पृष्ठ 88, प्रकाशक डायमंड बुक्सनई दिल्ली*
9. *लेखक डॉ द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पुस्तक हिंदी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि, पृष्ठ–233, प्रकाशक विनोद पुस्तक मंदिर आगरा*
10. *लेखक प्रवीण चंद्र छाबड़ा लेख "गांधी और तिलक राजनीति में सत्य पर विचार नहीं थे समान" अखबार राजस्थान पत्रिका सोमवार 28 जनवरी 2019*
11. *लेखक गजानन माधव मुक्तिबोध पुस्तक एक साहित्यिक की डायरी पृष्ठ 69 प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली*
12. *संपादक स्वामी जगदीश्वरानंद सरस्वती पुस्तक यजुर्वेद शतकम मंत्र 9 ६ 28 पृष्ठ 31 प्रकाशक विजय कुमार गोविंदराम हासानंद नई दिल्ली*
13. *सम्पादक स्वामी जगदीश्वरानंद सरस्वती पुस्तक ऋग्वेद शतकम मंत्र।।1।174।1।। प्रकाशक विजय कुमार गोविंदराम हासानंद नई दिल्ली*